"जैन साहित्य में आर्थिक ग्राम-संगठन से सम्बद्ध मध्यकालीन 'महत्तर', 'महत्तम' तथा 'कुटुम्बी' "

—डॉ० मोहनचन्द

'ग्राम संगठन' के सन्दर्भ में 'महत्तर' तथा 'कुटुम्बी' के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने के लिए आवश्यक है कि 'ग्राम संगठन' के प्रारम्भिक स्वरूप को समझा जाय। ऋग्वेद[1] में अनेक स्थानों पर 'ग्राम' का उल्लेख आया है जिसका अर्थ 'समूह' अथवा 'समुदाय' है।[2] संगीतशास्त्र[3] में तथा भाषाशास्त्र[4] में 'ग्राम' का 'समुदाय' अर्थ अब भी सुरक्षित है किन्तु वर्तमान में 'ग्राम' शब्द का अर्थ उस भूमि-प्रदेश का परिचायक है जिसमें कुछ लोग बसे हों तथा खेती आदि करते हों। वैदिक काल में 'ग्राम' का स्वरूप कुछ भिन्न था। वैदिक आर्य जब भारत में आए तो उन्होंने 'जन' के रूप में स्वयं को संगठित कर लिया था।[5] वैदिक आर्य स्वसमुदाय को 'सजात'[6], 'सनाभि'[7] आदि कहते थे तथा दूसरे जनों को 'अन्यनाभि'[8] अथवा 'अरण'[9] के नाम से पुकारते थे। प्रारम्भ में आर्यों के ये जन अव्यवस्थित एवं घुमक्कड़ रहे थे तथा अपने किसी शक्तिशाली पुरुष के नेतृत्व में इधर-उधर जाकर बसने लगे थे। इसके लिए 'समुदाय' की विशेष आवश्यकता थी। ऋग्वेद में आर्यों के कबीलों की यही सामुदायिक गतिविधि 'ग्राम' के नाम से प्रसिद्ध थी। किसी स्थान पर स्थायी रूप से बसने पर वह स्थान भी 'ग्राम' कहा जाने लगा था। अनेक ग्रामों का संगठित स्वरूप 'जनपद' कहलाया तथा उस जनपद के शासक को राजा कहा जाने लगा।[10] ग्रामों के घुमक्कड़ स्वरूप का चित्रण उत्तर वैदिक युग में निर्मित शतपथ ब्राह्मण में भी हुआ है। शतपथ ब्राह्मण एक ऐसे 'ग्राम' का उल्लेख करता है जो कहीं भी स्थायी रूप से बसा नहीं था तथा अपने नेता शर्याति के नेतृत्व में चलता फिरता रहता था।[11] इन ग्रामों के मुखिया को 'ग्रामणी' की संज्ञा दी गई है।[12]

---

१. तुलनीय —'असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि', ऋग्वेद, १.४४. १० पर सायण भाष्य —'ग्रामेषु जननिवासस्थानेषु।' 'ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्' ऋग्वेद १ ११४ १ पर सायण—'अस्मदीये ग्रामे वर्त्तमानं।' 'यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथास:', ऋग्वेद, २.१२.७ पर सायण०—'यस्य अनुशासने ग्रामा:', 'असन्तेऽत्ते ति ग्रामा जनपदा:'। 'निपुत्वन्तो ग्रामजितो' ऋग्वेद, ५.५४.८ पर सायण० 'ग्रामजितो ग्रामस्य जेतारो नर इव। कथा ग्रामं न पृच्छसि' ऋग्वेद १०.१४६.१ पर सायण— कथं ग्रामं न पृच्छसि, निर्जनेऽरण्ये कथं रमसे। गाव इव ग्रामं यूयुधि:', ऋग्वेद, १०. १४६ ४ पर सायण० 'गाव इव यथारण्ये संचरंतो गाव: ग्रामं शीघ्रमभिगच्छन्ति।

२. विशेष द्रष्टव्य —सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, मसूरी, १९६८, पृ० ३४-३५.

३. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, सम्पा० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी तथा तारणीश झा, इलाहाबाद, १९६७, पृ० ४१९.

४. Phoneme (ध्वनिग्राम), गोलोक बिहारी थल, ध्वनिविज्ञान, पटना, १९७५, पृ० २६२.

५. विशेष द्रष्ट० – मोहनचन्द, संस्कृत जैन महाकाव्यों में वर्णित नगरों तथा ग्रामों के भेद (लेख); तुलसीप्रज्ञा, जैन विश्वभारती, लाडनूं; खण्ड-२, अंक ७-८, जुलाई-दिसम्बर, १९७६; पृ० ५१-५२, ६५-६६.

६. तैत्तिरीय ब्राह्मण. २ १३.२ तथा अथर्ववेद, ३.३ ५.

७. अथर्व०, १ ३०.१

८. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था, पृ० ३४.

९ वही, पृ० ३४.

१० वही, पृ० ३५.

११. तल० 'शर्यातो ह वा इयं मानवो ग्रामेण चचार। स तदेव प्रतिवेशो निविविशो तस्य कुमारा क्रीडंत।' शतपथ०, ४ १.५.२.

१२ तुल० 'ग्रामण्यो गृहान् परेत्य' 'वैश्यो वै ग्रामणीस्तस्मात् मारुतो भवति', शतपथ०, ५.२ ५ ६.

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

ग्रामों की उपर्युक्त अनवस्थित दशा को स्थिर करने तथा इन ग्रामों के अन्तर्गत आने वाले 'कुटुम्बों' अथवा 'कुलों' को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि में 'राजतन्त्र' की सहायता ली गई है तथा वास्तुशास्त्रीय व्यवस्थित पद्धति के अनुरूप ग्राम, दुर्ग, जनपद आदि के निवेश को महत्त्व दिया गया है।[1] इस प्रकार 'ग्राम संगठन' की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि मूलत: सामाजिक संगठन का महत्त्वपूर्ण अंग रही थी जिसमें गोत्र, कुल, वंश, परिवार आदि का विशेष औचित्य था।[2] किन्तु परवर्ती काल में कृषि विकास के कारण ग्रामों द्वारा ही आर्थिक उत्पादन किया जाता था फलत: ग्राम संगठन को राजनैतिक शासन व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। गुप्तकाल तथा इससे उत्तरोत्तर शताब्दियों में ग्राम संगठन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी ही बन गए, जो आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था से केन्द्रित थे तथा राजनैतिक शक्ति के प्रभुत्व की मुख्य शक्ति के रूप में उभर कर आए थे।[3] यही कारण है कि प्राणनाथ आदि इतिहासकार यह कहते हैं कि 'ग्राम का अर्थ गाँव नहीं अपितु राष्ट्र (Estate) है जो अठारह प्रकार के करों का भुगतान करते थे।'[4] पी०वी० काणे ने इस मान्यता का खण्डन किया है तथा ग्राम को कुछ एकड़ भूमि से युक्त निवासार्थक इकाई ही माना है।[5] वस्तुत: प्राणनाथ द्वारा ग्राम के उपर्युक्त स्वरूप का वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से समर्थन नहीं किया जा सकता तथापि यह कहना होगा कि इनकी राष्ट्र के रूप में की गई ग्राम-परिभाषा मध्यकालीन राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उपयुक्त है तथा सामन्तवादी ढांचे में 'ग्राम' के वास्तविक एवं परिवर्तित स्वरूप को स्पष्ट करती है। राजा हर्ष के लिए 'चतुरुदधिकेदारकुटुम्बी'[6] तथा ग्राम मुखिया—'महत्तर' को 'जनपदमहत्तर'[7] एवं 'राष्ट्र महत्तर'[8] के रूप में मिली मान्यता ग्राम संगठन के राष्ट्रीय औचित्य को प्रकट करता है।

सातवीं शताब्दी ई० से बारहवीं शताब्दी ई० तक के मध्यकालीन ग्राम संगठनों का भारतीय अर्थ-व्यवस्था को आत्मनिर्भर एवं ग्रामोन्मुखी बनाने में विशेष योगदान रहा है। परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार किसी भी सामन्त राजा की उपादेयता उसके अधीन हुए ग्रामोत्पादन के लाभ से आंकी जाती थी। अब ग्रामों में वस्तुओं का उत्पादन बाजार में बेचने के लिए न होकर आभिजात्यवर्ग की आवश्यकतापूर्ति के लिए किया जाता था। इस व्यवस्था में किसान भूमि से बन्धे होते थे तथा भूमि के स्वामी वे जमींदार

---

१. महाभारत (शान्तिपर्व), १२.८७.२-८.

२. Sharma, R.S., *Social Changes in Early Medieval India,* The First Devraj Chanana Memorial Lecture, University of Delhi. Delhi, 1969, p. 13 तथा तुल०—
'शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पंचशतकुलपरं ग्रामं निवेशयेत्'। अर्थशास्त्र, २.१. ग्रामाः गृहशतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः। परस्तत्पञ्चशत्यास्यात् सुसमृद्धकृषिवलः।। आदिपुराण, १६.१६५.

३. Altekar, *State & Government in Ancient India,* Delhi, 1972, pp. 226-227.

४. 'डॉ० प्राणनाथ द्वारा जैन ग्रंथ 'प्रज्ञापणोपाङ्ग' के आधार पर 'ग्राम' की परिभाषा करना पी० वी० काणे के मत में भ्रान्त तथा अप्रमाणिक है। जैन टीकाकार के 'गामनिवेसेसु' इत्यादि—'ग्रसति बुद्धयादीन् गुणानिति ग्रामः यदि वा गम्यः शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशकराणामिति ग्रामः' नामक उद्धरण काणे महोदय के मत से कोशशास्त्रीय प्रमाण से अधिक और कुछ नहीं। वस्तुत: डॉ० प्राणनाथ द्वारा जिस राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में 'ग्राम' के संगठनात्मक स्वरूप को उभारा गया है उसके कई तथ्य विचारणीय हैं। प्राणनाथ का मन्तव्य है कि मध्ययुगीन भारत की राजनैतिक व्यवस्था पूरी तरह से सामन्तों की जकड़न में आ चुकी थी। ग्राम संगठन के सभी महत्त्वपूर्ण पहलुओं को पड़ोसी सामन्त राजा सुलझाते थे तथा उसमें ग्रामवासियों का प्रतिनिधित्व नहीं के समान था। भारतवर्ष की यह सामन्त पद्धति ग्रीक आदि देशों की सामन्त पद्धति से बहुत कुछ मिलती थी। जिसमें किसान, मजदूर, भूमिहीन मजदूर, दिहाड़ी वाले मजदूर एवं दासकृषकों के पास न तो राजनैतिक शक्ति थी और न ही कोई ऐसा संवैधानिक अधिकार था जिससे वे अपने दमन एवं शोषण के प्रति आवाज उठा सकें। इन सभी तथ्यों के आधार पर डॉ० प्राणनाथ 'ग्राम' को एक ऐसे व्यापक सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं जिसमें 'ग्राम संगठन' का औचित्य राज्य के सन्दर्भ में किया जाने लगा था और राज्य के स्वरूप का अवमूल्यन होकर 'ग्राम संगठन' मात्र से केन्द्रित हो चुका था। इसी प्रयोजन से डॉ० प्राणनाथ 'ग्राम' को estate संज्ञा देने में नहीं हिचकिचाते जो वास्तुशास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से अयुक्तिसंगत है किन्तु राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के व्यावहारिक सन्दर्भ में उपयुक्त है।'
विशेष द्रष्टव्य—(*i*) Pran Nath *A Study in Economic Condition of Ancient India,* p.26 & ch. I, III, VI, London, 1929.
(*ii*) Kane, P.V., *History of Dharma Śāstra*, Vol. III, p. 140, f n. 182.
(*iii*) Nigam, Shyamsunder, *Economic Organisation in Ancient India,* Delhi, 1975, pp.77-80.

५. Pran Nath, *A Study in Economic Conditions of Ancient India*, pp. 39-40.

६. हर्षचरित, सम्पादक पी० वी० काणे, दिल्ली, १९५९, पृ० ३५.

७. दशकुमारचरित, उच्छवास, ३, पृ० ७७.

८. निशीथभाष्य, ४.१७३५ तथा *I.A.* Vol. V, p. 114.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे जो असली काश्तकारों और राजाओं के बीच की कड़ी बने हुए थे। इन्हीं राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में मध्यकालीन ग्राम संगठनों का शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से विशेष महत्त्व हो गया था। सामन्त राजाओं ने ग्राम संगठन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से ग्रामों में रहने वाले जमींदारों, शिल्पी-प्रमुखों, जाति-प्रमुखों आदि को भी शासन-प्रबन्ध में अपना भागीदार बना लिया था।

ग्राम संगठन के इसी वैशिष्ट्य के संदर्भ में 'महत्तर' तथा 'कुटुम्बी' शब्दों का इतिहास छिपा हुआ है। इन दोनों शब्दों के अर्थों को समझने के लिए प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्राम संगठन के उन दोनों स्वरूपों को समझना अत्यावश्यक है जिसमें सर्वप्रथम ग्राम संगठन सामाजिक संगठन की मूल इकाई रहे किन्तु परवर्ती काल में इन पर राजतन्त्र का विशेष अंकुश लगा जिसके कारण 'ग्राम संगठन' का औचित्य आर्थिक एवं राजनैतिक मूल्यों की दृष्टि से किया जाने लगा। परिणामतः 'महत्तर' एवं 'कुटुम्बी' के पदों का प्रारम्भिक स्वरूप सामाजिक संगठनपरक होने के बाद भी मध्यकाल में राजनैतिक व्यवस्था के अनुरूप राजकीय प्रशासनिक पद के रूप में परिवर्तित हो गया।

महत्तर—'महत्' शब्द से तरप् प्रत्यय लगाकर 'महत्तर' शब्द का निर्माण हुआ है। इस तरप् प्रत्यय के आग्रह से ऐसी पूर्ण सम्भावना व्यक्त होती है कि 'महत्तर' किसी अन्य व्यक्ति अथवा पद की तुलना में बड़ा रहा होगा।[1] इस संदर्भ में अग्निपुराण के उल्लेखानुसार पांच कुटुम्बियों के बाद छठे 'महत्तर' की व्यवस्था दी गईहै। अग्निपुराण के इस उल्लेख में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पांच कुटुम्बों वाले ग्राम तथा छठे महत्तर की संगठित शक्ति को बड़े से बड़ा शक्तिशाली व्यक्ति पराजित नहीं कर सकता।[2] इस प्रकार ग्राम संगठन के संदर्भ में विभिन्न कुलों अथवा कुटुम्बों के मुखिया 'कुटुम्बी' कहलाते थे तथा उन पांच-छः कुटुम्बियों के ऊपर 'महत्तर' का पद था। रामायण में एक स्थान पर 'जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्' कहकर अप्रत्यक्ष रूप से शूद्र जाति के 'महत्तर' की ओर संकेत किया गया है।[3] शब्दकल्पद्रुम में महाभारत के नाम से 'महत्तर' का उल्लेख करने वाले एक पद्य को उद्धृत किया गया है,[4] किन्तु महाभारत में 'क्रिटिकल एडिसन' में इस पद्य के 'महत्तर' पाठ के स्थान पर 'बृहत्तर' पाठ स्वीकृत किया गया है।[5] अतएव रामायण एवं महाभारत में आए 'महत्तर' के सम्बंध में कुछ कहना कठिन है। कात्यायन के वचनों के अनुसार 'महत्तर' ग्राम का प्रतिष्ठित व्यक्ति होता था तथा ग्राम के सभी झगड़ों का निपटारा करता था।[6] इतिहासकारों के अनुसार अग्निपुराण आदि में आए 'महत्तर' सम्बन्धी उल्लेख यह सिद्ध नहीं करते हैं कि यह राजा द्वारा एक प्रशासनिक अधिकारी के रूप में नियुक्त किया जाता था।[7] इस संबंध में अभयकान्त चौधुरी महोदय की धारणा है कि राजा प्रायः बड़े-बड़े ग्रामों के ग्राम प्रमुखों को नियुक्त करता था किन्तु पांच-छह छोटे-छोटे गांवों के प्रशासन को ग्राम के वे प्रतिष्ठित व्यक्ति ही चला लेते थे जो प्रायः धन-धान्य सम्पन्न होते थे तथा सुशिक्षित भी।[8] इस तर्क के आधार पर चौधुरी महोदय अग्नि पुराण में आए 'महत्तर' को भी ग्राम के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति से अधिक कुछ नहीं मानते।[9] इस विषय में यह कहना अपेक्षित होगा कि अग्निपुराण में पांच कुटुम्बों से युक्त ग्राम तथा छठे 'महत्तर' का जो निर्देश हुआ है वह निःसंदेह यह स्पष्ट कर देता है कि 'महत्तर' ग्राम का वह महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता था जिसके अधीन कम से कम पांच कुटुम्बों के मुखिया 'कुटुम्बी' आते थे। इस प्रकार अग्नि पुराण में तत्कालीन ग्राम संगठन का एक व्यवस्थित स्वरूप दिया गया है तथा यह महत्त्वपूर्ण नहीं

---

१. तुल० 'अयमनयोरतिशयेन महान्' स्याद्रराजाराधाकान्तदेवबहादुरकृत शब्दकल्पद्रुम, भाग ३, पृ० ६५२.

२. 'कुटुम्बैः पञ्चभिर्ग्रामः षष्ठस्तत्र महत्तरः।
देवासुरमनुष्यैर्वा स जेतुं नैव शक्यते॥' अग्निपुराण, १६५.११

३. शब्दकल्पद्रुम, भाग ३, पृ० ६५२ पर उद्धृत—रामायण १.१.१०१ तथा हलायुधकोश पर उद्धृत पृ० ५२१
डॉ० रामाश्रय शर्मा ने रामायण के २.६४.२६ उद्धरण के आधार पर रामायण काल में 'श्रेणीमहत्तर' के अस्तित्व की पुष्टि की है किन्तु वर्तमान में उपलब्ध रामायण के अधिकांश संस्करणों में यह सन्दर्भ अनुपलब्ध है।
Sharma, Ramashraya, *A Socio-Political Study of the Vālmīki Rāmāyaṇa*, Delhi, 1971, p. 373.

४. वही, महाभारत, ७.१७२. ५६—'अणीयां समणुम्य च बृहदम्यञ्च महत्तरम्।'

५. तुल० 'ददर्श भृशदुर्दर्शं सर्वदेवैरपीश्वरम्।
वणीयसामणीयांशं बृहद्भ्यश्च बृहत्तरम्॥' महाभारत, पूना संस्करण, ७.१७२.५६.

६. तुल० 'सर्वकार्यप्रवीणाश्चालुब्धा वृद्धा महत्तराः॥' धर्मकोष, भाग-१, पृ० ६१ पर उद्धृत।

७. Choudhary, Abhay Kant, *Early Medieval Village in North-Eastern India*, Calcutta, 1971, p. 217.

८. वही, पृ० २१७-१८.

९. 'The mahattara', as mentioned in a verse of the *Agni Purāṇa* (165.11), may look like a village head, but he does not enjoy the status of the 'grāmapati' or the 'grāmabhartā' duly appointed by the king', *Ibid.*, p.217.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि उसे राजा स्वयं नियुक्त करता था अथवा नहीं। इस प्रकार ग्राम संगठन की न्यूनतम इकाई कुटुम्ब अथवा कुल के मुखिया 'कुटुम्बी' से पद में बड़ा होने के कारण 'महत्तर' में 'तरप' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।

जैन साहित्य में उपलब्ध होने वाले अनेक 'महत्तर' सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यह पद ग्राम संगठन से सम्बन्धित पद था। बृहत्कल्पभाष्य[1] के एक उल्लेखानुसार किसी उत्सव-गोष्ठी के अवसर पर महत्तर, अनुमहत्तर, ललितासनिक, कटुक, दण्डपति आदि राजकीय अधिकारियों के उपस्थित रहने एवं राजा की अनुमति से सुरापान आदि करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2] इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि 'महत्तर' ग्राम संगठन का सदस्य होता था तथा उसकी सहायता के लिए 'अनुमहत्तर' पद भी अस्तित्व में आ गया था। निशीथ भाष्य के प्रमाणों के आधार पर डा० जगदीशचन्द्र जैन ने 'ग्राम महत्तर' एवं 'राष्ट्र महत्तर' दो पदों के अस्तित्व की सूचना दी है।[3] डा० जगदीशचन्द्र जैन ने राष्ट्र महत्तर को राठौड़ (रट्ठउड) के समकक्ष सिद्ध करने की भी चेष्टा की है।[4] इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से विचारणीय प्रश्न है कि यदि राष्ट्र महत्तर को राठौड़ का संस्कृत मूल माना जाता है तो 'ग्राम महत्तर' को भी 'गौड' का संस्कृत मूल मानना चाहिए। डा० आर० एस० शर्मा महोदय ने सूचित किया है कि मध्यकालीन दक्षिण भारत में ग्राम प्रवर तथा ग्राम मुखिया के रूप में 'गौन्ड' अथवा 'गौड' का अस्तित्व रहा था। "वर्तमान में मैसूर में ये गौड शूद्र वर्ण के हैं।[5] किंतु दूसरी ओर गौड ब्राह्मणों के अस्तित्व की भी सूचना मिलती है। अभिप्राय यह है कि मध्यकालीन 'गौन्ड' जिन्हें कि भूमिदान दिया जाता था तथा जो राजकीय प्रशासनिक अधिकारों का भोग करते थे ग्राम संगठन के संदर्भ में 'ग्राम महत्तर' से अभिन्न रहे थे। वर्तमान में 'महत्तर' के अनेक अवशेष प्राप्त होते हैं जिनमें महतो, मेहता, महत्था, मल्होत्रा, मेहरोत्रा, मेहतर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[6] 'महत्तर' मूल की इन जातियों में ब्राह्मण, वैश्य, कायस्थ, शूद्र आदि सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे तथापि मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था में अर्थ व्यवस्था के ग्रामोन्मुखी हो जाने से जिस दास प्रथा की विभीषिका को जन्म मिला उसके कारण अधिकांश-कृषि ग्राम शूद्रों द्वारा बसाए गए परिणामत: ग्राम-मुखिया भी अधिकांश रूप से शूद्र ही होने लगे थे। इस विशेष परिस्थिति में 'महत्तर' शूद्र होने के रूप में रूढ़ होने लगे तथा इनके पद का अवमूल्यन भी होता गया। त्रिकाण्ड शेष (१४वीं शती ईस्वी) में 'महत्तर' को शूद्र तथा 'ग्रामकूट' के पर्यायवाची शब्द के रूप में परिगणित करने का मुख्य कारण भी यही है कि ये अधिकांश मात्रा में शूद्र होते थे तथा पारिभाषिक दृष्टि से वे 'ग्रामकूट' अर्थात् ग्राम के मुखिया भी थे।[7] कौटिल्य के अर्थशास्त्र[8] में ग्राम के मुखिया के लिए 'ग्रामकूट' का प्रयोग आया है जो परवर्ती काल में 'महत्तर' के रूप में प्रसिद्ध हो गया। हेमचन्द्र की देशी नाममाला (१२ वीं शती ई०) में 'महत्तर' के प्रशासकीय वैशिष्ट्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। हेमचन्द्र ने 'महत्तर' के तत्कालीन प्राकृत एवं जनपदीय भाषाओं में प्रचलित अनेक देशी रूपों का उल्लेख किया है। इनमें से एक रूप था 'महत्तर' तथा कुछ लोग इसे 'मेहरो' अथवा 'मेहर' भी कहते थे। इस मइहर अथवा मेहरो को ग्राम प्रवर अर्थात् ग्राम मुखिया के रूप में स्पष्ट किया गया है।[9] 'महत्तर' के एक दूसरे शब्द-रूप का भी हेमचन्द्र उल्लेख करते हैं वह है 'महयरो' जिसे जंगलात के अधिपति (गह्वरपति) के रूप में स्पष्ट किया गया है।[10] इस प्रकार १२वीं शताब्दी ईस्वी में महत्तर के देशी रूप 'मइहर' अथवा 'महयर' प्रचलित होने लगे थे तथा इनका प्रयोग ग्राम संगठन आदि के अर्थ में ही किया जाता था।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, २.३५७४.

२. वही, २.३५७४-७६.

३. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ० ६२ तथा तुल० निशीथभाष्य, ४. १७३५.

४. वही, पृ० ६२.

५. 'Similarly *gaumdas* village elders and headmen who were assigned lands and given fiscal and administrative rights in the medieval Deccan, did not belong to one single cast, and their modern representatives called 'gaudas' in Mysore are regarded as Śūdras'.
Sharma, R.S. *Social Change in Early Medieval India*, pp. 10-11.

६. वही, पृ० १०.

७. 'शूद्रःस्यात् पादजो दासो ग्रामकूटो महत्तरः।' त्रिकाण्डशेष, २.१०.१.

८. अर्थशास्त्र, ४.४ ६.

९. 'मइहरो ग्रामप्रवरः। मेहरो इत्यन्ये।' देशीनाममाला, ६. १२१; तथा तुल० पाठभेद (१) महर (२) मेहर.

१० 'महयरो गह्वरपति:।' देशी० ६.१२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इतिहासकारों की धारणा है कि नवीं शताब्दी ई० के मध्य तक 'महत्तर' शब्द का स्थान 'महत्तम' ने लिया था।[1] पी० वी० काणे महोदय के द्वारा दी गई सूचना के अनुसार गुप्त कालीन अभिलेखों तथा दान पत्रों में 'महत्तर' का उल्लेख आया है,[2] इनमें से जयभट्ट के एक दान पत्र (५ वीं शती ई०) में 'राष्ट्रग्राम महत्तर' का प्रयोग भी मिलता है।[3] परिणामतः यह कहा जा सकता है कि ग्राम संगठन के अतिरिक्त 'राष्ट्र' के संदर्भ में भी 'महत्तर' नामक प्रशासनिक पद का प्रयोग होने लगा था। पालवंश के दान पत्रों में 'महत्तर' का अन्तिम प्रयोग देवपाल का मोंग्यार दान पत्र है।[4] तदनन्तर नवीं शती ई० के मध्य-भाग में 'महत्तम' का प्रयोग होने लगा था। देवपाल के नालन्दा पत्र में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।[5] तदन्तर त्रिलोचन पाल के ताम्र पत्र,[6] गोविन्द चन्द्र के बसई-दान पत्र,[7] मदन पाल तथा गोविन्द चन्द्र के ताम्रपत्र,[8] गोविन्दचन्द्र के बनारस दान पत्र[9] में निरन्तर रूप से 'महत्तर' के स्थान पर 'महत्तम' का उल्लेख आया है।

वस्तुतः अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह द्योतित होता है कि गुप्तकाल के उपरान्त ग्राम संगठन का विशेष महत्त्व बढ़ गया था फलतः सामन्त पद्धति की विशेष परिस्थितियों में अधिकाधिक व्यक्तियों को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी तथा भूमिदान एवं ग्रामदान के राजकीय व्यवहारों में भी वृद्धि हो गई थी। इस कारण 'महत्तर' से बड़े पद 'महामहत्तर', 'राष्ट्र महत्तर,' 'वीथिमहत्तर' आदि भी अस्तित्व में आने लगे थे। 'महामहत्तर' का उल्लेख धर्मपाल के खलीमपुर दान पत्र[10] में आया है जो अभय कान्त चौधुरी के अनुसार महत्तरों के संगठन की ओर संकेत करता है।[11] 'महामहत्तर' सभी महत्तारों के ऊपर का पद था। 'वीथि महत्तर' जिला स्तर पर नियुक्त किया गया राजकीय अधिकारी था। गुप्तवंश वर्ष १२० दान पत्र में इसका उल्लेख आया है।[12] 'राष्ट्रमहत्तर' का उल्लेख 'राष्ट्रग्राममहत्तर' के रूप में ५वीं शताब्दी ई० के गुप्त लेख में हुआ है।[13] उतरवर्ती मध्यकाल में 'राष्ट्र महत्तर' के आधार पर मंत्री आदि के लिए 'महत्तार' का प्रयोग होने लगा। वास्तव में गुप्तकाल से लेकर १२ वीं शताब्दी ई० तक के काल में 'महत्तार' एक सामन्तवादी अलंकरणात्मक पद के रूप में प्रयोग किया जाने लगा था। समय-समय पर तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तों में 'महत्तार' के प्रयोग के विभिन्न दृष्टिकोण रहे थे। जैन साहित्य तथा अन्य भारतीय साहित्य के 'महत्तर' से सम्बन्धित विभिन्न उल्लेख इस प्रकार हैं—

१. विमलसूरि कृत प्राकृत पउमचरिउ में मयहर (महत्तर) का उल्लेख हुआ है। एक स्थान पर विजय, सूर्यदेव, मधुगन्ध, पिंगल, शूलधर, काश्यप, काल, क्षेम नाम के मयहरों का निर्देश भी आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पउमचरिय 'महत्तर' को सामाजिक संगठन के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में वर्णित करता है।[14]

२. बाण के हर्षचरित में 'जरन्महत्तर'[15] की व्याख्या करते हुए विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। पी० वी० काणे के[16] मतानुसार इसे

---

१. Choudhary, *Early Medieval Village*, p. 218.

२. तुल० Kavi Plate of Jayabhaṭa (5th cent. A.D.), *Indian Antiquary*, Vol.V, p.114, Maliya Plate of Dharasena II, *Gupta Inscription* No. 38, plate 164, p. 169; Abhona Plates of Śankaragaṇa (595 A.D.), *Epigraphia Indica*, Vol. IX, p. 297; Palitana Plate of Siṃhaditya (Gupta year 255), *E.I.* Vol. XI, pp. 16, 18. Valabhi Grant of Dharasena II, (Gupta year 252), *I.A.*, Vol. 15, p. 187.

३. *I.A.* Vol. V, p. 114.

४. Monghyar Grant of Devapāla.

५. Nalanda grant of Devapāla.

६. *I.A*, Vol XVIII, pp. 33, ff.1.4.

७. *Ibid.*, XIV, pp. 101, ff. 1.11.

८. *Ibid.*, XVIII, pp. 14, ff. 1.12.

९. *Ibid*, II, plate No. 29, ff. 1.9.

१०. Khalimpur Plate of Dharmapāla, *E.I.*, Vol. IV, plate No. 34, 1.47.

११. *Ibid.*, IV, plate No. 34, 1.47.

१२. *Indian Histórical Quarterly*, Vol. 19, plate 12, pp.,16, 21.

१३. 'राष्ट्रग्राममहत्तर':

१४. पउमचरिउ, ६३ १६-१७.

१५. 'मार्गग्रामनिर्गतैराग्रहारिकजाल्मैः पुरःसरजरन्महत्तरोत्तम्भिताम्भः कुम्भैरुपायनीयकृतदधिगुडखण्डकुसुमकरदण्डैर्वंनघटितपेटकैः सरभसं समुत्सर्पद्भिः' हर्षचरित, सप्तम उच्छवास, सम्पा० पी० वी० काणे, पृ० ५६.
हर्षचरित, पृ० २१२, निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १६४६ तथा तुलना कीजिए—रघुवंश, १. एंव चन्द्रप्रभचरित, १३.४१.

१६. हर्षचरित, पृ० १८३, सम्पादक, पी०वी० काणे, बम्बई १६१८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्राम मुखिया (village head) की संज्ञा दी गई है तो कौवेल[1] के अनुसार इसे वयोवृद्ध बुजुर्ग (aged elders) के रूप में स्पष्ट किया गया है।

३. दण्डी के दशकुमारचरित में शतहलि नामक व्यक्ति को जनपद के प्रशासक के रूप में 'जनपदमहत्तर' की संज्ञा दी गई है।[2]

४. कल्पसूत्र की टीका में आए कौटुम्बिका (कौटुम्बिया) को 'ग्राममहत्तर' के तुल्य स्वीकार करते हुए उसे ग्राम-प्रभु,अवलगक, कुटुम्बी आदि शब्दों से स्पष्ट किया गया है।[3]

५. जिनसेन के आदि पुराण में विभिन्न राजदरबारी अधिकारियों के प्रसंग में 'महत्तर' का भी उल्लेख आया है।[4] इसके दूसरे पाठ में 'महत्तम' का प्रयोग भी उपलब्ध होता है।

६. सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू की टीका में राज्य के अठारह प्रकार के अधिकारी पदों में से 'महत्तर' नामक पद का उल्लेख भी मिलता है।[5] मंत्री के एकदम बाद महत्तर का परिगणन करना इसके महत्त्व का द्योतक भी है।

७. वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य[6] (९७०-९७५ ई०) में युद्ध प्रयाण के अवसर पर राजा पद्मनाभ तथा उसकी सेना के अहीरों के घोष ग्रामों के निकट से जाने पर कम्बल ओढ़े हुए गोशालाओं के अहीरों—'गोष्ठमहत्तरों' द्वारा दही तथा घी के उपहार से राजा का स्वागत करने का उल्लेख आया है।[7] ऐसा ही संदर्भ कालिदास के रघुवंश में भी आया है किन्तु उन्होंने वहां पर 'गोष्ठमहत्तर' के स्थान पर 'घोषवृद्ध' का प्रयोग किया है[8] जो इस तथ्य का सूचक है कि कालिदास युगीन घोष ग्रामों के मुखिया (घोषवृद्ध) नवीं दशवीं शताब्दी ई० में 'गोष्ठमहत्तर' के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। चन्द्रप्रभ महाकाव्य की टीका चन्द्रप्रभ काव्यपंजिका में 'गोष्ठमहत्तर' को 'गोपाल-प्रभु' अर्थात् 'अहीरों के स्वामी' के रूप में स्पष्ट किया गया है है।[9] चन्द्रप्रभचरित के प्रस्तुत उल्लेख से ज्ञात होता है कि अहीरों के ग्रामों में भी 'महत्तर' पद का अस्तित्व आ चुका था। ये 'महत्तर' युद्ध प्रयाण आदि अवसरों पर राजा को उपहार देकर प्रसन्न करते थे तथा राजा द्वारा दान में दी गई भूमि के अनुग्रह का भुगतान भी करते थे।

८. दशवीं शताब्दी ई० में निर्मित पुष्पदन्त कृत जसअरचरिउ[10] (यशोधर चरित) में कवि पुष्पदन्त का राजा नरेन्द्र के निजी महत्तर नन्न के निवास पर रहने का उल्लेख मिलता है। महत्तर नन्न मंत्री भरत का पुत्र था तथा अपने पिता के उपरांत वह ही मंत्री पद पर आसीन हुआ।[11] इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि दशवीं शताब्दी ई० में दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट शासन में 'महत्तर' पद एक गौरवपूर्ण पद हो गया था जो मंत्री पद से थोड़ा ही कम महत्त्वपूर्ण पद रहा होगा।

९. हरिषेण कृत बृहत्कथाकोश (१० वीं शताब्दी ई०) में अशोक नामक धनाढ्य 'महत्तर' द्वारा गोकुल की भूमि अधिग्रहण करने के

---

१. हर्षचरित, सम्पादक, कौवेल तथा थोमस, दिल्ली, १९६१, पृ० २०८.

२. तुल० 'गृहपतिश्च ममान्तरङ्गभूतो जनपदमहत्तरः शतहलिरलीकवादशीलमवलेपवन्तः' दशकुमारचरित, उच्छवास ३, पृ० ७७.

३. 'कौटुम्बिकाः कतिपय कुटुम्बप्रभवोवलगकाः ग्राममहत्तराः,' कल्पसूत्र २.६१ पर उद्धृत टीका, Stien Otto, *The Jinist Studies* Ahmedabad, 1948, p. 79.

४. 'सामन्तप्रहितान् दूतान् द्वाः स्थैरानीयमानकान्।
संभावयन् यथोक्तेन संमानेन पुनः पुनः॥
परचक्रनरेन्द्राणामानीतानि महत्तरैः। महत्तमैः।
उपायनानि संपश्यन् यथास्वं तांश्च पूजयन्॥' आदिपुराण, ५.१०-११

५. 'सेनापतिर्गणको राजश्रेष्ठी दण्डाधिपो मन्त्री महत्तरो बलवत्तरश्चत्वारो वर्णाश्चतुरङ्गबलं पुरोहितोऽमात्यो महामात्यश्चेत्यष्टादशराज्ञां तीर्थानि भवन्ति' यशस्तिलक १.१९ पर उद्धृत टीका.
Kane, P.V., *History of Dharmaśāstra*, Vol. III, p. 113, fn. 148.

६. चन्द्रप्रभचरित, १३.१-४१.

७. तुल० 'रुचिररल्लकराजितविग्रहैर्विहितसंभ्रमगोष्ठमहत्तरैः।
पथि पुरो दधिसर्पिरुपायनान्युपहितानि विलोक्य स पिप्रिये॥' चन्द्रप्रभचरित, १३.४.१.

८. 'हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥ रघुवंश, १. ४५.

९. तुल०-'गोष्ठमहत्तरैः-गोपालप्रभुभिः उपहितानि आनीतानि। चन्द्रप्रभ, १३.४१. पर पञ्जिका टीका.

१०. तुल०-'कोंडिल्लगोत्तणहदिणययारासु वल्लहणरिंदघरमहयरासु।
णण्णहो मंदिर णिवसंतु संतु अहिमाणमेरुकइ पुप्फयंतु॥ पुष्पदन्त कृत जसहरचरिउ, १.१.३-४, सम्पा० हीरालाल, दिल्ली, १९७२.

११. पुष्पदन्तकृत जसहरचरिउ, भूमिका, पृ० ६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए प्रतिवर्ष एक हजार घी के घड़े राजा को देने की शर्त का उल्लेख आया है। अशोक नामक इस 'महत्तर' ने अपनी दोनों पत्नियों को संतुष्ट करने के लिए गोकुल को दो भागों में विभक्त कर प्रत्येक पत्नी को पांच सौ घी के घड़े देने का दायित्व सौंप दिया।[1] बृहत्कथा के इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महत्तर' पद राजा द्वारा किन्हीं शर्तों पर दिया जाने वाला पद विशेष रहा होगा। ग्राम संगठन के संदर्भ में 'महत्तर' अपने काम को आसान बनाने के लिए अपनी पत्नियों अथवा अन्य लोगों को भागीदार बना लेते थे। अशोक नामक महत्तर की दो पत्नियों को आधे-आधे ग्राम का स्वामी बना देने का वृतान्त भी ग्राम संगठन के सामन्तवादी ढांचे को विशद करता है। बृहत्कथा के एक अन्य स्थान पर 'महत्तरिका'[2] का भी उल्लेख आया है जो संभवतः 'महत्तरक' की पत्नी हो सकती है जिस पर संभवतः प्रशासनिक जिम्मेवारी भी रहती थी। बृहत्कथा कोश में एक स्थान पर राज दरबार में भी 'महत्तरों' की उपस्थिति कही गई है जो राजकीय उत्सवों के अवसर पर याचकों को दान आदि देने का कार्य करते थे। बृहत्कथा कोश के 'कडारपिङ्गकथानक' में 'महत्तर' को मन्त्री के रूप में भी वर्णित किया गया है।[3]

१०. निशीथचूर्णी में कंचुकी सदृश अन्तःपुर के कर्मचारी के रूप में 'महत्तर' का उल्लेख मिलता है।[4]

११. कल्हण की राजतरंगिणी में 'महत्तर'[5] एवं 'महत्तम'[6] दोनों का प्रयोग आया है जिनमें 'महत्तर' अन्तःपुर का रक्षक था तो मंत्री कलश के लिए 'महत्तम' का प्रयोग हुआ है।

१२. कथासरित्सागर में मिलने वाले 'महत्तर' के सभी प्रयोग अन्तःपुर का रक्षक (chamberlain) के लिए ही हुए हैं।[7]

१३. मेहेर वंशीय 'वाखल' राजकुल में उत्पन्न मण्डलीक नागार्जुन के पुत्र महानन्द को 'मेहेरो द्विजवल्लभः सहितः पुत्रपौत्रैश्च' के रूप में वर्णित करने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि १४वीं शताब्दी ईस्वी में 'महत्तर' मूलीय मेहेरवंश वर्ण से द्विज था।[8]

१४. बिहार में 'महत्तम' मूलीय महतों अथवा महतो वंश के लोग वर्ण से शूद्र एवं ब्राह्मण दोनों होते थे।[9]

१५. १७वीं शताब्दी ई० में जैन लेखक साधु सुन्दरगणि ने अपने ग्रंथ उक्ति रत्नाकर में 'महत्तर' के लिए देशी शब्द 'मेहरू' का प्रयोग किया है।[10] हेमचन्द्र के देशीनाममाला[11] में महत्तर के लिए प्रयुक्त 'मइहर' अथवा 'मेहरो' के भाषा शास्त्रीय विकासक्रम की शृंखला में 'उक्तिरत्नाकर' में उक्त 'मेहरू' की तुलना की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बारहवीं शताब्दी ईस्वी

---

१. तुल० 'वाराणसीसमीपे च गङ्गारोधसि सुन्दरः। पलाशोपपदः कूटो ग्रामो बहुधनोऽभवत्।
आसीदशोकनामाऽत्र ग्रामे बहुधनो धनी। महत्तरोऽस्य भार्या च नन्दा तन्मानसप्रिया।
वृषभध्वजभूपाय घृतकुम्भसहस्रकम्। वर्षे वर्षे प्रदायास्ते भुञ्जानो गोकुलानि स।
दृष्ट्वा अशोको महारार्टि तथा नन्दासुनन्दयोः। अर्धार्धगोकुलं कृत्वा ददौ कार्यविचक्षणः॥' बृहत्कथाकोश, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९४३, २१.३-४; २१.७-८.

२. तुल०-'मीनोघी पपाताशु तन्महत्तारिका वरा।' बृहत्कथा, ७३.५३.

३. तुल०-पट्टवन्धं विधायास्य कर्कण्डस्य नराधिपाः।
मंत्रिणस्तलवर्गाश्च विनेयुः पदपङ्कजम्॥
कनकं रजतं रत्नं तुरङ्गं करिवाहनम्।
स ददुर्महत्तरा हृष्टा याचकेभ्यो मुहुर्मुहुः॥ बृहत्कथा—१.५६.२६४-६५.
तथा-'सत्यं कडारपिङ्गोऽयं मन्महत्तरनन्दनः' बृहत्कथा० ८२.३५

४. निशीथचूर्णी, ६.

५. तुल० 'हर्षान्तिकं दण्डकारण्यः प्रायान्निजमहत्तरः।' राजतरङ्गिणी, ७.६५६.

६. तुल० 'महत्तमस्य पुत्रो हि प्रशस्ताख्यस्य सोऽभवत्।' वही, ७.४३८.

७. तुल० 'केनाऽयं रचितोऽत्रेति सोऽपृच्छच्च महत्तरान्।
ते च न्यवेदयंस्तस्मै तु कर्तारं तिलकस्य माम्॥' कथासरित्सागर, १.५.३४.
तथा—'एतन्महत्तरवचः श्रुत्वा सर्वेऽपि तत्क्षणम्।
सदुक्तमेववैतदिति तत्र बभाषिरे॥ कथा० ६.६.१९.

८. Discalker, *Inscriptions of Kathiavada*, p. 73.

९. Choudhari, *Early Medieval Village*, p. 221.

१०. उक्तिरत्नाकर, सम्पादक जिनविजय मुनि, राजस्थान, १९५७, पृ० २७.

११. देशीनाममाला, ६–१२१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में 'महत्तर' के लिए प्रयुक्त सभी देशी शब्द 'ग्राम मुखिया' के द्योतक थे परन्तु धीरे-धीरे वंश अथवा जाति के रूप में भी इनका प्रयोग किया जाने लगा था। यही कारण है कि १३२९ ई० में काठियावाड़ से प्राप्त शिलालेख में 'मेहेर' को द्विज वंश कहा गया है।[१]

इस प्रकार महत्तर एवं महत्तम सम्बन्धी उपर्युक्त साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महत्तर' ग्राम संगठन से सम्बन्धित एक अधिकारी विशेष था। महत्तर राज्य द्वारा नियुक्त किया जाता था अथवा नहीं इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता किंतु मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था में 'महत्तर' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। वह ग्राम संगठन के एक प्रमुख व्यक्ति के रूप में राजा तथा उसकी शासन व्यवस्था से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध था। पांचवीं शताब्दी ई० के उत्तरवर्ती अभिलेखीय साक्ष्यों में 'महत्तर' तथा 'महत्तम' के उल्लेख मिलते हैं जिनका सम्बन्ध प्रायः राजाओं द्वारा भूमिदान आदि के व्यवहारों से रहा था। इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित यह तथ्य कि ९वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध के उपरांत 'महत्तर' के स्थान पर 'महत्तम का प्रयोग होने लगा था, एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है तथा युगीन सामंतवादी राज्य व्यवस्था के व्यवहारिक पक्ष पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। 'महत्तर' का 'महत्तम' के रूप में स्थानांतरण का एक मुख्य कारण यह भी है कि नवीं शताब्दी ई० में पाल वंशीय शासन व्यवस्था में 'उत्तम' नामक एक दूसरे ग्राम संगठन के अधिकारी का अस्तित्व आ चुका था।[२] 'उत्तम' की तुलना में 'महत्तर' की अपेक्षा 'महत्तम' अधिक युक्तिसंगत पड़ता था। इस कारण 'उत्तम' नामक ग्राम मुखिया से कुछ बड़े पद वाला अधिकारी महत्तम कहा जाने लगा था।[३] पालवंशीय दान पत्रों में 'महत्तर'-'महत्तम', 'कुटुम्बी' आदि के उल्लेखों से यह भी द्योतित होता है कि सामान्य किसानों के लिए 'क्षेत्रकर' का प्रयोग किया गया है।[४] 'कुटुम्बी' इन सामान्य किसानों की तुलना में कुछ विशेष वर्ग के किसान थे जो विभिन्न कुलों तथा परिवारों के मुखिया के रूप में ग्राम संगठन से सम्बद्ध थे। उसके उपरान्त 'उत्तम' नामक ग्रामाधिकारियों का स्थान आता था जो संभवतः 'कुटुम्बी' से बड़े होने के कारण 'उत्तम' कहलाते थे। इन 'उत्तम' नामक ग्रामाधिकारियों के ऊपर 'महत्तम' का पद रहा था। पालवंशीय शासन व्यवस्था में इन विभिन्न पदाधिकारियों के क्रम को इस प्रकार रखा जा सकता है —

क्षेत्रकर 7 कुटुम्बी 7 उत्तम 7 महत्तम[५]

'उत्तम' नामक एक नवीन पदाधिकारी के अस्तित्व से 'महत्तर' के पूर्व प्रचलित पद को धक्का ही नहीं लगा अपितु इसके अर्थ का अवमूल्यन भी होता चला गया। भारतवर्ष के कुछ भागों विशेषकर उत्तरपूर्वी प्रान्तों तथा कश्मीर आदि प्रदेशों में 'महत्तर' तथा 'महत्तम' दोनों का प्रयोग मिलता है किन्तु 'महत्तर' अन्तपुर के रक्षक (chamberlain) के लिए प्रयुक्त हुआ है जबकि 'महत्तम' शासन व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के लिए आया है।[६] कथासरित्सार में भी 'महत्तर' अन्तःपुर के रक्षक के रूप में ही निर्दिष्ट है। किन्तु गुजरात दक्षिण भारत आदि प्रान्तों में 'महत्तर' के अवमूल्यन का कम प्रभाव पड़ा तथा वहाँ १२वीं शताब्दी ई० तक भी 'महत्तर' को ग्राम संगठन के अधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त थी। १२वीं शताब्दी ई० के उपरान्त 'महत्तर' एवं 'महत्तम' पदों के प्रशासकीय पदों की लोकप्रियता कम होती गई तथा इसकी देशी संज्ञाएँ मेहरा, मेहेर, मेहरू, महतों आदि वंश अथवा जाति के रूप में रूढ होती चली गईं। इन जातियों में किसी वर्ण विशेष का आग्रह यद्यपि नहीं था तथापि शूद्र एवं निम्न वर्ण की जातियों का इनमें प्राधान्य रहा था। इसका कारण यह है कि मध्य काल में इन जातियों से सम्बद्ध लोग ग्राम संगठन के मुखिया रहे थे एवं राजकीय सम्मान के कारण भी उनका विशेष महत्त्व रहा था। फलतः इन महत्तरों की आने वाली पीढ़ियों के लिए 'महत्तर' तथा उससे सम्बद्ध 'मेहरा', 'महतो' सम्बोधन गरिमा का विषय था। यही कारण है कि वर्तमान काल में भी महत्तर-महत्तम के अवशेष विभिन्न जातियों के रूप में सुरक्षित हैं। आर्थिक दृष्टि से इनमें से कई जातियां आज निर्धन कृषक जातियां हैं किन्तु किसी समय में इन जातियों के पूर्वज भारतीय ग्रामीण शासन व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पदों को धारण करते थे। ठीक यही सिद्धांत ११वीं १२वीं शती ई० के 'पट्टकिल'[७] तथा आधुनिक 'पटेल' अथवा 'पाटिल'; मध्यकालीन 'गौन्ड'[८] तथा आधुनिक 'गौड़'; मध्यकालीन 'कुटुम्बी', आधुनिक कुन्बी, कुर्मि, कोडी;

---

१. Discalker, *Inscriptions of Kathiavada*, p.73.
२. *I.A.* Vol. XXIX, No. 7, 1.31.
३. तुल० 'महत्तमोत्तमकुटुम्बी' Land grants of Mahipāla I, *I.A.* Vol. XIV, No. 23, 11.41-42.
४. Choudhari, *Early Medieval Village*, p. 220.
५. वही, पृ० २२०.
६. राजतरंगिणी, ७.६५६ तथा ७.४३८.
७. Sharma, R.S., *Social Change in Early Medieval India*, p.10.
८. वही, पृ०. १०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यकालीन, 'राष्ट्र महत्तर',[१] 'आधुनिक राठौड़'; मध्यकालीन रणक, ठाकुर, रौत,नायक तथा आधुनिक राणा, ठाकुर, रावत, नाइक आदि पर भी लागू होता है ।[२] इनमें से रणक, ठाकुर, रौत, नायक आदि कतिपय वे उपाधियां थीं जो प्रायः शिल्पियों, व्यापारियों आदि के प्रधानों को सामन्ती अलंकरण के रूप में प्रदान की जाती थीं तथा परवर्ती काल में इन अलंकरणात्मक पदों के नाम पर जातियां भी निर्मित होती चली गईं ।

कुटुम्बी – संस्कृत 'कुटुम्बी' भाषा शास्त्र एवं व्याकरण की दृष्टि से अवैदिक एवं अपाणिनीय प्रयोग है । चारों वेदों[३] तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी[४] में इसके प्रयोग नहीं मिलते । ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत कुड धातु से निष्पन्न 'कोडियो' 'कोडिय' 'कौडुम्बियों' 'कुडुम्बी' आदि जनपदीय देशी शब्दों का संस्कृतिकृत रूप 'कुटुम्ब' अथवा 'कुटुम्बी' है । परवर्ती काल में संस्कृत अभिलेखों कोश ग्रन्थों आदि में 'कुटुम्बी' का जो अर्थ वैशिष्ट्य देखा जाता है उसका प्रारम्भिक इतिहास प्राकृत आगम ग्रन्थों में विशेष रूप से सुरक्षित है ।[५] हेमचन्द्र की देशीनाममाला में आए कुडुंबिग्रं/कुडुच्चिग्रं का अर्थ मैथुन अथवा सुरत कहा गया है ।[६] इस सम्बन्ध में पिशल का विचार है कि कुडुंबिग्रं मैथुनपरक अर्थ के कारण ही विवाह संस्था से जुड़ गया तदन्तर प्राकृत 'कुटुम्ब' 'परिवार' अथवा गृहस्थाश्रम का द्योतक बन गया ।[७] इस प्रकार 'कुटुम्ब' अथवा 'कुटुम्बी' के भाषा शास्त्रीय उद्गम पर वैदिक परम्परा के साहित्य की तुलना में प्राकृत जैन परम्परा के साहित्यिक साक्ष्य अधिक उपयोगी प्रकाश डालते हैं ।

वैदिक परम्परा के साहित्य की दृष्टि से 'कुटुम्बी' का छान्दोग्योपनिषद्[८] में सर्वप्रथम प्रयोग मिलता है जिसका प्रायः परिवार अथवा गृहस्थाश्रम अर्थ किया गया है ।[९] मत्स्य पुराण में उपलब्ध होने वाले 'कुटुम्बी' विषयक लगभग सभी प्रयोग चतुर्थ्यन्त हैं तथा ब्राह्मण के विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं ।[१०] दीक्षितार महोदय ने ब्राह्मण के कुटुम्बी विशेषण को एक ऐसा विशेषण माना है जिससे दानग्रहण के अधिकारी विशेष की योग्यता परिलक्षित होती है ।[११] इसी सन्दर्भ में वायुपुराण के वे उल्लेख भी विद्वानों के लिए विचारणीय हैं जहां सप्तर्षियों के स्वरूप को ब्राह्मण-वैशिष्ट्य के रूप में उभारा गया है तथा इन्हें गोत्र प्रवर्तक मानने के साथ-साथ 'कुटुम्बी' भी कहा गया है ।[१२] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दुर्ग-निवेश के अवसर पर राजा द्वारा कुटुम्बियों की सीमा निर्धारण की चर्चा

---

१. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ६२.

२. Majumdar, N.G., Inscriptions of Bengal, III, No.5. 36.

३. द्रष्टव्य—चतुर्वेद वैयाकरण पदसूची, होशियारपुर, १९६०.

४. Katre, S.M., *Dictionary of Pāṇini*, Poona, 1968, Part I, pp. 180-181.

५. कल्पसूत्र, २.६१, औपपातिकसूत्र, १५.३८, ४८.

६. देशीनाममाला, २.४१.

७. Pischel, R., *The Deśīnāmamālā of Hemacandra*, Bombay, 1938, p.3.

८. 'कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः' छान्दोग्योपनिषद्, ८.१५.१.

९. 'कुटुम्बे गार्हस्थ्योचित कर्मणि' छान्दो, ८.१५.१ पर उपनिषद्ब्रह्मयोगी, पृ० २२५.

१०. तुल० 'यो दद्यात् वृषसंयुक्त ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ।
शिवलोके स पूतात्मा कल्पमेकं वसेन्नरः ।।
पौर्णमास्यां मघौ दद्यात् ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ।
वराहस्य प्रसादेन पदमाप्नोति वैष्णवम् ।।
दातव्यमेतत् सकलं द्विजाय कुटुम्बिने नैव तु दाम्भिकाय ।
समर्पयेद्विप्रवराय भक्त्या कृताञ्जलिः पूर्वमुदीर्य मन्त्रम् ।।
संकल्पयित्वा पुरुषं सपद्यं दद्यादनेकव्रतदानकाय ।
अव्यङ्गरूपाय जितेन्द्रियाय कुटुम्बिने देयमनुद्धताया ।
शर्करासंयुक्तं दद्याद् ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ।
रविं काञ्चनकं कृत्वा पलस्यैकस्य धर्म्मवित् ।।'
मत्स्यपुराण, ५३.१९, ५३.४०, ७३.३५, ६९.१५, ७५.३, सम्पा० जीवानंद, कलकत्ता, १८७६.

११. Dixitar, Purāṇa Index.

१२. तुल० वायुपुराण—६१.९२-९६ तथा—
अग्राम्यैर्वर्तयन्ति स्म रसैश्चैव स्वयं कृतैः ।
कुटुम्बिन ऋद्धिमंतो बाह्यातंर निवासिनः ।। वायुपुराण, ६१.९६
गुरुमंडल सीरीज़, कलकत्ता, १९५९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आई है[1] किन्तु इस सन्दर्भ में भी 'कुटुम्बी' के अर्थ-निर्धारण में मत-वैभिन्य देखा जाता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में आए इस 'कुटुम्बी' को प्रायः 'गृहस्थ',[2] 'श्रमिक',[3] 'नागरिक',[4] निम्न वर्ग के 'दुर्गान्तवासी'[5] आदि विविध अर्थों में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार ईस्वी पूर्व के प्राचीन साहित्य में उपलब्ध 'कुटुम्ब' के परिवार अर्थ में तो कोई आपत्ति नहीं किन्तु इससे सम्बद्ध 'कुटुम्बी' का स्वरूप संदिग्ध एवं अस्पष्ट जान पड़ता है। ईस्वी पूर्व के जैन आगम ग्रन्थ तथा जैन शिलालेख 'कुटुम्बी' के अर्थ निर्धारण की दिशा में हमारी बहुत सहायता करते हैं। जैन आगम कल्पसूत्र[6] में भगवान् महावीर के आठवें उत्तराधिकारी 'सुत्थिय' द्वारा 'कौटिक' अथवा 'कोडिय'गण की स्थापना करने का उल्लेख आया है जो कि बाद में चार शाखाओं में विभक्त हो गया था।[7] संभवतः वायु पुराण में गोत्र प्रवर्तक 'कुटुम्बी' कल्पसूत्रोक्त 'कोटिक' अथवा 'कोडिय' से बहुत साम्यता रखता है। कोडिय गण में फूट पड़ने के कारण जो चार शाखाएं अथवा कुल बन गए थे उनमें 'वणिय' अथवा 'वणिज्ज' नामक कुल भी रहा था।[8] कल्पसूत्रोक्त इस सामाजिक संगठन में फूट पड़ने की घटना की वासिट्ठिपुत-अभिलेख (ल्युडर्स संख्या—११४७) से भी तुलना की जा सकती है।[9]इस लेख में कहा गया है कि मध्यमवर्ग के कृषक तथा वणिक् लोग परस्पर टूटकर स्वतन्त्र गृहों तथा कुटुम्बों (कुलों) में विभक्त हो गए थे।[10] Siri Pulumayi के अनुसार इन गृहों तथा कुटुम्बों के मुखिया क्रमशः 'गृहपति' तथा 'कुटुम्बी' कहलाते थे।[11]

कल्पसूत्र[12] तथा औपपातिक सूत्र[13] में 'कोडुम्बिय' (कौटुम्बिक) का उल्लेख 'माडम्बिय' (माडम्बिक) 'तलवर' आदि प्रशासनिक अधिकारियों के साथ आया है, जो यह सिद्ध करता है कि जैन आगम ग्रन्थों के काल में 'कोडुम्बिय' अथवा 'कौटुम्बिक' प्रशासनिक पदाधिकारियों के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। इस संबन्ध में कल्पसूत्र की एक टीका के अनुसार 'कोडुम्बिय' अथवा 'कौटुम्बिक उन अनेक कुटुम्बों (कुलों) अथवा परिवारों के स्वामी थे जिन्हें प्रशासकीय दृष्टि से 'अवलगक' अथवा 'ग्राम-महत्तर' के समकक्ष समझा जा सकता था —'कौटुम्बिकाः—कतिपयकुटुम्बप्रभवोवलगकाः ग्राममहत्तरा वा'[14] प्रस्तुत टीका में आए 'अवलगक' को लगान एकत्र करने वाले ग्रामाधिकारी के रूप में समझना चाहिए।[15] बंगाल के हजारीबाग जिले के 'दुधपनि' स्थान से प्राप्त शिलालेख में वर्णित एक घटना के अनुसार राजा आदिसिंह द्वारा भ्रमरशाल्मलि नामक पल्ली ग्राम में ग्रामवासियों की इच्छा से एक धन धान्य सम्पन्न वणिक को 'अवलगक' के रूप में नियुक्त करने का उल्लेख आया है।[16] वह 'अवलगक' राजा का विशेष पक्षपाती व्यक्ति था तथा पल्ली ग्राम का राजा कहलाता था।[17] इस शिलालेख से 'अवलगक' को राज्य प्रशासन की ओर से नियुक्त अधिकारी के रूप में सिद्ध करने

---

१. तुल०-'कर्मान्तिक्षेत्रवशेन वा कुटुम्बिनां सीमानां स्थापयेत्।'
अर्थशास्त्र, २.४.२२, संपादक, टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९२४.
२. तुल०-'कुटुम्बियों' अर्थात् साधारण गृहस्थ के कारखाने, अर्थशास्त्र, अनु० रामतेज शास्त्री, पृ० ९२.
३. 'Families of workmen may in any other way be provided with sites befitting their occupation and field work.'
Sham Shastri, *Kauṭilya's Arthaśāstra*, Mysore, 1951/p.54.
४. 'नगर में बसने वाले परिवारों के लिए निवास भूमि का निर्णय'—उदयवीर शास्त्री, अनु० अर्थशास्त्र, पृ० ११४.
५. 'कुटुम्बिनां दुर्गान्तिवासयितव्यानां वर्णावराणां, कर्मान्तिक्षेत्रवशेन···सीमानं स्थापयेत्।
—अर्थशास्त्र, २.४.२२, टी० गणपति शास्त्रीकृत श्रीमूल टीका.

६. *Sacred Books of the East*, Vol. XXII, p. 292.
७. Buhler, J.G., *The Indian Sect of the Jainas*, Calcutta, 1963, p.40.
८. वही, पृ० ४०.
९. *I.A.*, Vol. XLVIII, p. 80.
१०. वही, पृ० ८०.
११. वही, पृ० ८०.
१२. कल्पसूत्र, २.६१.
१३. औपपातिक, १५.
१४. Stein, Otto, *The Jinist Studies*, p.79.
१५. तुल० 'आलवन'—फसल काटना (लु) तथा 'आर्वन'—पहली फसल जो गृह देवताओं को समर्पित की जाती है।
—Turner, R.L., *A Comparative Dictionary of the Indo Aryan*, London, 1912, p. 62.
१६. Stein, Otto, *The Jinist Studies*, p. 80.
१७. वही, पृ० ८०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए प्रामाणिक आधार मिलता है तथा इसी रूप में 'कुटुम्बी' को भी समझा जा सकता है। मध्यकालीन ग्राम संगठन के आर्थिक पक्ष पर प्रकाश डालने वाले इस शिलालेख के उल्लेखानुसार 'अवलगन' (प्रेम उपहार) को राजा तक पहुँचाने वाले व्यक्ति की 'अवलगक' संज्ञा थी। संभवतः प्रारम्भ में कटी हुई फसल के राजकीय भाग से इसका अभिप्राय रहा होगा।[1] किन्तु बाद में किसी भी व्यक्ति से सम्बन्ध अच्छे करने के लिए भी किसी प्रकार का प्रेमोपहार देना 'अवलगन' कहलाने लगा।[2] मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में इसका विशेष प्रचलन हो गया था।

'कुटुम्बी' के कोशशास्त्रीय अर्थ का भी रोचक इतिहास है। अमरकोशकार (५वीं शती ई०), 'कुटुम्बिनी' तथा 'कुटुम्बव्यावृत'[3] शब्दों के उल्लेख तो करते हैं किन्तु स्वतन्त्र रूप से 'कुटुम्बी' के किसान अर्थपरक पर्यायवाची शब्दों का कहीं भी उल्लेख नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता है कि अमरकोश के काल में 'कुटुम्बी' को किसान के पर्यायवाची शब्दों में स्थान नहीं मिल पाया था। उन्होंने किसान के 'क्षेत्राजीवी', 'कर्षकः', 'कृषिकः', 'कृषिवलः' केवल चार पर्यायवाची शब्द गिनाए हैं[4] जबकि दसवीं शताब्दी ई० में निर्मित हलायुध कोश में इन चार पर्यायवाची शब्दों के अतिरिक्त 'कुटुम्बी' भी जोड़ दिया गया।[5] इस प्रकार हलायुध कोश ने सर्वप्रथम दसवीं शताब्दी ई० में 'कुटुम्बी' के 'किसान' अर्थ को मान्यता दी तदनंतर हेमचन्द्र[6] ने भी इसे परम्परागत रूप से किसान के पर्यायवाची शब्द के रूप में स्वीकार कर लिया।[7] १२वीं शताब्दी ई० में हेमचन्द्र की देशीनाममाला में 'कुटुम्बी' से सादृश्य रखने वाले अनेक प्राकृत शब्द मिलते हैं उनमें 'कुडुच्चिअम्'[8] तथा 'कोडिओ'[9] महत्त्वपूर्ण हैं। हेमचन्द्र ने 'कुडुच्चिअम्' का अर्थ सुरत अथवा मैथुन किया है[10] किन्तु 'कोडियो' को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है जो ग्राम भोक्ता होता था तथा छल-कपट से ग्रामवासियों को परस्पर लड़ा-भिड़ाकर गांव में अपना आधिपत्य जमा लेता था—'मेएण ग्रामभोत्ता य कोंडिओ'—'कोंडियओ भेदेन ग्रामभोक्ता ; ऐकमत्यं ग्रामीणानामपास्य यो मायया ग्रामं भुनक्ति।'[11]

इस प्रकार देशीनाममाला से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत परम्परा से चले आ रहे 'कौडुम्बिय' 'कोडिय' आदि प्रयोग हेमचन्द्र के काल तक 'कोडिओ' के रूप में ग्रामशासन के अधिकारी के लिए व्यवहृत होने लगा था।

सातवीं शताब्दी ई० बाणरचित हर्षचरित में कुटुम्बियों के जो उल्लेख प्राप्त होते हैं उनके सम्बन्ध में दो तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो 'कुटुम्बी' का प्रयोग 'अग्रहार' 'ग्रामेयक' 'महत्तर' 'चाट' आदि के साथ हुआ है जो स्पष्ट प्रमाण है कि 'कुटुम्बी' भी ग्रामेयक

---

१. तुल० Turner, Comparative Dic. p. 62; Stein, *The Jinist Studies*, p.80, fn. 172.

२. तन्त्रारण्य (पृ० १८), हेमचन्द्रकृत परिशिष्टपर्व (८,१२) तथा पंचतन्त्र (किलहार्न संस्करण पृ० २८) में 'अवलगन' को किसी व्यक्ति के विश्वास जीतने एवं उसके प्रति आदर व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ओटो स्टेन का विचार है कि राजा के लिए स्वैच्छिक उपहार देने की परम्परा का उल्लेख रामायण आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त रुद्रदामन् शिलालेख आदि में भी हुआ है। अतएव उन्होंने कल्पसूत्र की टीका के एक उद्धरण पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि अवलगन प्रेम-कर होता था। 'कौटुम्बिक' मध्यम वर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करते हुए एक दायित्व के रूप में राजा को स्वैच्छिक उपहार तथा कर इत्यादि भेंट करते थे।

'So we are entitled to translate *avalagana* "Love-tax" and *avalagaka-n.* is evidently the same while the masculine is the donor—an avalagana (ka), *Kauṭumbika* would be therefore the representatives of the middle-class, which had the duty to present to the king voluntary presents, taxes.'—Stein, *The Jinist Studies*, p. 81-2.

३. तुल० 'भार्या जायाथपुंभूम्निदाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी' अमर० २.६.६ तथा
'कुटुम्ब व्याप्ततस्तु यः स्यादभ्यागारिकः' अमर० ३.१ ११.

४. 'क्षेत्राजीवः कर्षकश्च कृषिकश्च कृषीवलः।' अमर० २.९.६.

५. तुल० 'क्षेत्राजीवः कृषिकः कृषिवलः कर्षकः कुटुम्बी च।' अभिधानरत्नमाला, २.४१९.

६. अभिधानचिन्तामणि, ३-५५४.

७. त्रिषष्टिशलाका०, २.४.१७३ तथा २ ४.२४०.

८. देशीनाममाला, २ ४१.

९. देशीनाममाला, २.४८.

१०. 'कुडुच्चिअं सुरए', देशी० २.४१.

११. देशी० २.४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यक आदि के समान प्रशासनिक अधिकारी रहा होगा।[1] दूसरे राजा हर्ष दिग्विजय के अवसर पर किसी वन ग्राम में कुटुम्बियों के घरों को देखकर वहां रहने लगते हैं। फलत: ये 'कुटुम्बी' सामान्य किसान न होकर राजा के विश्वासपात्र व्यक्ति रहे होंगे जिनपर युद्ध प्रयाण आदि के अवसर पर राजा तथा उसकी सेना के रहन-सहन तथा भोजन आदि की व्यवस्था का दायित्व भी रहता था।[3] इस प्रकार हर्षकालीन भारत में कुटुम्बी ग्राम संगठन के प्रशासनिक ढांचे से पूर्णत: जुड चुके थे।

कात्यायन के वचनानुसार श्रोत्रिय विधवा, दुर्बल आदि कुटुम्बी को 'राजबल' माना गया है तथा इनकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करने का निर्देश दिया गया है।[3] मध्यकालीन भारत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सोमदेव के नीतिवाक्यामृत (१०वीं शती ई०) में कुटुम्बियों को बीजभोजी कहा गया है तथा उनके प्रति अनादर की भावना अभिव्यक्त की गयी है।[4] इसी प्रकार नीतिवाक्यामृत में राजा को निर्देश दिए गए हैं कि वे द्यूत आदि व्यसनों के अतिरिक्त कारणों से आए हुए कुटुम्बियों के घाटे को पूरा करें तथा उन्हें मूलधन देकर सम्मानित करें।[5] नीतिवाक्यामृत के इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि 'कुटुम्बी' राजा के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे किन्तु सामन्तवादी भोग-विलास तथा सामान्य कृषकों के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी थी। नीतिवाक्यामृत में सामान्यतया किसान के लिए शूद्रकर्षक[6] प्रयोग मिलता है अतएव 'कुटुम्बी' को उन धनधान्य सम्पन्न किसानों के विशेष वर्ग के रूप में समझना चाहिए जो परवर्ती काल में जमींदार के[7] रूप में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना सके थे।

बारहवीं शताब्दी ई० मध्यकालीन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की चरम परिणति मानी जाती है। इस समय तक ग्राम संगठन पूर्णत: सामन्तवादी प्रवृत्तियों से जकड़ लिए गए थे।[8] इसका परिणाम यह हुआ कि ग्राम संगठनों के कुटुम्बी आदि ठीक उसी प्रकार समझे जाने लगे थे जैसे सामन्त राजा। हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित महाकाव्य में युद्ध प्रयाण के अवसर पर ग्रामाधीश आदि स्वयं को कुटुम्बियों के समान कर देने वाले तथा अधीन रहने वाले बताते हैं।[9] त्रिषष्टि० में एक दूसरे स्थान पर कुटुम्बियों को सेना तथा सामन्त राजाओं के समान अधीनस्थ माना गया है।[10] हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में आए ये उल्लेख यह

---

१. 'क्वचिदसहार्यै: क्लेशार्जितकुग्रामकुटुम्बिसम्पादितसीदत्सौरभेय········क्वचिन्नरपनिदर्शनकुतूहलादुभयत: प्रजवितप्रधावितग्रामेयकजनपदय मार्गग्रामनिर्गतै राग्रहारिकजाल्मै: पुर:सरजरन्महत्तरोम्भितामभ: कुम्भैरुपायनीकृत्य दधिगुडखण्डकुसुमकरदण्डैर्धनघटितपेटकै:।'

हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास, पृ०, ५६, – सम्पादक—पी० वी० काणे, दिल्ली, १९६५.

२. 'पोष्यमाणवनविडालमालुधाननकुलशालिजातजातकादिभिरविकुटुम्बिनां गृहैरुपेतं वनग्रामकं ददर्श तत्रैव चावसदिति।'

हर्षचरित, पृ०६९.

हर्षचरित में आए कुटुम्बी विषयक अन्य उल्लेख—

—'पत्रवीटावृतमुखै: पीतकूटै:रुद्धवारिणा पुर:सरवलद्वलीवर्दयुगसरेण नैकटिक कुटुम्बिलोकेन काष्ठसंग्रहार्थमटवीं प्रविशता:'

हर्ष०, पृ० ६८.

—'सोऽयं सुजन्मा सुगृहीतनामा तेजसां राशि: चतुरुदधिकेदारकुटुम्बी भोक्ता ब्रह्मस्तम्भफलस्य सकलादिराजचरितजयज्येष्ठमल्लो देव: परमेश्वरो हर्ष:।'

हर्ष० पृ० ३५.

—'प्रातिवेश्यविषयवासिना नैकटिककुटुम्बिकलोकेन'

हर्ष० पृ० २२६.

३. Thapar Romila, *A History of India*, Part I, Great Britain, 1974, pp. 242-43.

४. 'श्रोत्रिया विधवा बाला दुर्बलाश्च कुटुम्बिन:।
एते राजबला राज्ञा रक्षितव्या प्रयत्नत:॥'

(कात्यायन), कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड, भाग ११, पृ० ८४.

५. 'बीजभोजिन: कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम्।'

नीतिवाक्यामृत, १.४५.

६. 'अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन कुटुम्बिन: प्रतिसम्भावयेत्।'

नीतिवाक्यामृत, १७.५३.

७. नीतिवाक्यामृत, १९.८.

८. 'Out of the revenue retained by the vassal he was expected to maintain the feudal leview which underlying his oath of loyality to his king, he was in duty bound to furnish for the king's services. To break his oath was regarded as a heinous offence.'

Thapar, Romila, *A History of India*, Part I, p. 242.

तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, २.४.१७०-७२.

९. 'कुटुम्बिका इव वयं करदा वशगाश्च व:।' त्रिषष्टिशलाका०, २.४.१७३.

१०. 'कुटुम्बिन: पत्तयो वा सामन्ता वा त्वदाज्ञया।
अत: परं भविष्यामस्त्वदधीना हि न: स्थिति:॥'

त्रिषष्टिशलाका०, २.४.२४०

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

स्पष्ट कर देते हैं कि 'कुटुम्बी' स्वरूप से कृषक अवश्य रहे होंगे क्योंकि समग्र कृषकदासों पर ये आधिपत्य करते थे किन्तु ये वास्तविक व्यवसाय करने वाले किसान नहीं थे। हेमचन्द्र द्वारा अभिधान चिन्तामणि में कोशशास्त्रीय अर्थ के रूप में 'कुटुम्बी' को कृषक[1] मानना अर्थ की दृष्टि से परम्परानुमोदित तथा युक्तिसंगत है किन्तु लौकिक व्यवहार की प्रासंगिकता की दृष्टि से 'कुटुम्बी' देशीनाममाला में कहे गए 'कौडिओ' के तुल्य था जो ग्रामभोक्ता होने के साथ-साथ छलकपटपूर्ण व्यवहार से ग्रामवासियों को परेशान करता था किंतु राजा के विश्वासपात्र तथा विनम्र सेवक के रूप में राजा को हर प्रकार से सहायता करता था।

मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था एवं सामुदायिक ढांचों के सन्दर्भ में इतिहासकारों तथा पुरातत्ववेत्ताओं ने 'कुटुम्बी' सम्बन्धी जिन मान्यताओं का प्रतिपादन किया है, उनमें प्रो०आर० एस० शर्मा का मन्तव्य है कि मध्यकालीन 'कुटुम्बी' वर्तमान कालिक बिहार एवं उत्तर प्रदेश की शूद्र जाति 'कुर्मियों' तथा महाराष्ट्र की 'कुन्बियों' के मूल वंशज रहे थे।[2] प्रो० शर्मा के अनुसार मध्यकालीन भारत में हुए सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप वैश्यों तथा शूद्रों के व्यवसायों में काफी परिवर्तन आ चुके थे। गुप्त काल की उत्तरोत्तर शताब्दियों में शूद्रों ने वैश्यों द्वारा अपनाई जाने वाले कृषि व्यवसाय को प्रारम्भ कर दिया था। सातवीं शताब्दी ई० के ह्वेन्त्साङ्ग तथा ग्यारहवीं शताब्दी ई० के अलबेरूनी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि शूद्र कृषि कार्य में लग चुके थे तथा वैश्यों एवं शूद्रों में रहन-सहन की दृष्टि से भी कोई विशेष भेद नहीं रह गया था। इसी ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रो० शर्मा 'कुटुम्बियों' को सम्भवतः एक ऐसी कृषक जाति से जोड़ना चाहते हैं जो वर्ण से शूद्र थी।[3] डी० सी० सरकार[4] तथा वासुदेव शरण अग्रवाल[5] की भी यही धारणा है कि 'कुटुम्बी' उत्तर भारत की 'कुलम्बी' अथवा 'कुन्बी' जाति के लोग रहे होंगे। इस प्रसंग में टर्नर महोदय की 'इण्डो आर्यन डिक्शनरी' के वे तथ्य भी उपयोगी समझे जा सकते हैं जिनमें उन्होंने संस्कृत 'कुटुम्बी' तथा प्राकृत 'कुडुम्बी' को आधुनिक पूर्वी हिन्दी तथा सिन्धी के 'कुर्मी', पश्चिमी हिन्दी के 'कुन्बी', गुजराती के 'कन्बी' तथा कलमी', पुरानी गुजराती के 'कलम्बी' 'मराठी के 'कलाबी' तथा 'कुन्बी' का मूल माना है।[6] भाषा शास्त्रीय इस सर्वेक्षण के आधार पर सभी प्रान्तों में बोली जाने वाली तत्तद्भाषाओं में 'किसान' अर्थ की एकरूपता देखी जाती है। इस प्रकार इतिहासकारों तथा कोशकारों ने 'कुटुम्बी' शब्द के केवल उस पक्ष को स्पष्ट किया है जिसके आधार पर 'कुटुम्बी' को 'कृषक जाति' के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु 'कुटुम्बी' का वर्तमान समाधान व्यवहारतः सर्वथा पूर्ण नहीं है। अभिलेखीय साक्ष्यों तथा अनेक साहित्यिक साक्ष्यों के ऐसे उद्धरण दिए जा सकते हैं जिनसे यह भावना दृढ़ होती जाती है कि 'कुटुम्बी' लोगों की ग्राम संगठन के धरातल पर एक ऐसी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी जिसके कारण 'कुटुम्बी' राजा तथा किसानों के मध्य बीच की कड़ी रहे होंगे जिसके कारण उन्हें ग्राम प्रशासन का महत्त्वपूर्ण अधिकारी माना जाने लगा था।

मध्यकालीन ग्राम संगठनों को ग्रामोन्मुखी तथा आत्म-निर्भर अर्थ व्यवस्था ने बहुत प्रभावित किया जिसे इतिहासकार सामन्तवादी अर्थ व्यवस्था के रूप में भी स्पष्ट करते हैं।[7] गुप्तवंश[8] तथा पालवंश[9] के दान पत्रों से उस व्यवस्था के उस आर्थिक एवं राजनैतिक ढांचे की पुष्टि होती है जिसके अन्तर्गत ऐसे अनेक प्रशासकीय पदों का अस्तित्व आ गया था जो भूमिदान तथा ग्रामदान के संवैधानिक व्यवहारों की देख-रेख करते थे। इस सन्दर्भ में 'कुटुम्बी' पद विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[10]

मध्ययुगीन दक्षिण भारत के ग्राम संगठन के सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि पल्लववंशीय राजाओं के काल में 'कोडुवकपिल्लै' नामक एक अधिकारी के पद का अस्तित्व रहा था।[11] इस अधिकारी का मुख्य कर्त्तव्य ग्राम दान तथा ग्रामों से आने

---

१. अभिधानचिंतामणि, ३.५५४.
२. Sharma, *Social Changes in Early Medieval*, p. 11.
३. वही, पृ० ११.
४. Sircar, D.C., *Select Inscriptions*, Vol. I, Calcutta, 1942, p. 498.
५. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एवं सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १९५३, पृ० १८१, पाद० ४.
६. Turner, R.L., *A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages*, London, 1912, p. 165.
७. आर० एस० शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, अनु० आदित्यनारायण सिंह, दिल्ली, १९७३, पृ० १-२.
८. Puri, B N., *History of Indian Administration*, Vol. I, Bombay, 1968, p. 138.
९. Choudhari, *Early Medieval Indian Village*, p. 220.
१०. *Indian Historical Quarterly*, Vol. XIX, p. 15.
११. Meenakshi, C., *Administration & Social Life under the Pallavas*, Madras, 1938, p. 56.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले 'परिहार' आदि करों से सम्बन्धित व्यवहारों को देखना था।[1] 'परिहार' आदि करों के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि ये कर ग्रामों से प्राप्त होने वाले अठारह प्रकार के कर थे जिनकी सूचना भी पल्लववंश के अभिलेखों से प्राप्त होती है।[2] इस प्रकार दक्षिण भारत में 'कुडुम्बनी" अथवा 'कोडिय' की साम्यता पर 'कोडुक्कपिल्लै' नामक प्रशासकीय पद स्वरूप से विशुद्ध राजकीय अधिकारी का पद रहा था तथा यह ग्राम संगठन के आर्थिक ढाँचे को नियन्त्रित करता था।

इस प्रकार 'कुटुम्बी' विषयक जैन साहित्य एवं जैनेतर साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में 'कोडिय' के रूप में गुप्तकालीन एवं मध्यकालीन 'कुटुम्बी' समाज संगठन की न्यूनतम इकाई-परिवार अथवा कुल के प्रधान के रूप में प्रतिनिधित्व करते थे। तदनन्तर पांच अथवा उससे अधिक परिवारों के समूह—'ग्राम' के संगठनात्मक ढांचे में उनका महत्वपूर्ण स्थान बनता गया।[3] मध्यकालीन ग्राम संगठन में 'महत्तम' अथवा 'महत्तर' से कुछ छोटे पद के रूप में उनकी प्रशासकीय स्थिति रही थी। यही कारण है कि भूमिदान तथा ग्रामदान सम्बन्धी अभिलेखीय विवरण 'करद-कुटुम्बी' के रूप में इनकी उपस्थिति आवश्यक मानते हैं। इतिहासकारों ने कुर्मियों तथा कुन्बियों के रूप में जिस कृषक जाति को कुटुम्बियों का मूल माना है वह उस अवस्था का द्योतक है जब 'कुटुम्बी' ग्राम प्रशासन की अपेक्षा गोत्र अथवा जाति के रूप में अधिक लोकप्रिय होते चले गए थे तथा संगठनात्मक ढांचे में इनका स्थान 'जमींदारों' आदि ने ले लिया था।[4] कुटुम्बी के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि ये अधिकांश रूप से शूद्र थे। ब्राह्मण आदि वर्ण के रूप में भी इनका अस्तित्व रहा था। अधिकांश ग्राम शूद्रों द्वारा बसाये जाने के कारण ही वर्तमान में शूद्र कुन्बियों तथा कुर्मियों की संख्या अधिक है।

—o—

दक्षिण की जैन जातियाँ

दक्षिण महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रान्त में (मैसूर स्टेटको छोडकर) जैनों की केवल चार जातियाँ हैं, (१) पंचम, (२) चतुर्थ, (३) कासार बोगार और (४) शेतवाल। पहले ये चारों जातियाँ एक ही थीं और 'पचम' कहलाती थीं। 'पंचम' यह नाम वर्णाश्रमी ब्राह्मणोंका दिया हुआ जान पड़ता है। प्राचीन जैनधर्म जन्मतः वर्णव्यवस्था का विरोधी था, इसलिए उसके अनुयायियों को ब्राह्मण लोग अवहेलना और तुच्छताकी दृष्टिसे देखते थे और चातुर्वर्णसे बाहर पाँचवें वर्णका अर्थात् 'पंचम' कहते थे। जिस समय जैनधर्मका प्रभाव कम हुआ और उसे राजाश्रय नहीं रहा, उस समय धीरे धीरे यह नाम रूढ होने लगा और अन्ततोगत्वा स्वयं जैनधर्मानुयायियों ने भी इसे स्वीकार कर लिया ! ऐसा जान पड़ता है कि नवीं दसवीं शताब्दिके लगभग यह नामकरण हुआ होगा। इसके बाद वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदायका उदय हुआ और उसने इन जैनों या पंचमोंको अपने धर्ममें दीक्षित करना शुरू किया। लाखों जैन लिंगायत बन गये; परन्तु लिंगायत हो जानेपर भी उनके पीछे पूर्वोक्त 'पचम' विशेषण लगा ही रहा और इस कारण इस समय भी वे 'पंचम लिंगायत' कहलाते हैं। उस समय तक चतुर्थ, शेतवाल आदि जातियाँ नहीं बनीं थीं, इस कारण जो लोग जैनधर्म छोड़कर लिंगायत हुए थे, वे 'पंचम लिंगायत' ही कहलाते हैं 'चतुर्थ लिंगायत' आदि नहीं। दक्षिणमें मालगुजार या नम्बरदारको पाटील कहते हैं। वहाँके जिस गाँव में एक पाटील लिंगायत और दूसरा पाटील जैन होगा, अथवा जिस गाँवमें लिंगायत और जैन दोनोंकी बस्ती होगी, वहाँ लिंगायत पंचम जातिके ही आपको मिलेंगे और जिस गाँवमें पहले जैनोंका प्राबल्य था, वहाँके सभी लिंगायत पंचम होंगे। अनेक गाँव ऐसे हैं, जहाँके जैन पाटीलों और लिंगायत पाटीलोंमें कुछ पीढ़ियोंके पहले परस्पर सूतक तक पाला जाता था। जिस गाँवके जैन पाटीलोंमें चतुर्थ और पंचम दोनों भेद हैं, वहाँके लिंगायत पाटील केवल पंचम हैं। इससे मालूम होता है कि लिंगायत सम्प्रदायके जन्मसे पहले बारहवीं शताब्दि तक सारे दाक्षिणात्य जैन पंचम ही कहलाते थे, चतुर्थ आदि भेद पीछेके हैं। दक्षिणके अधिकांश जैन ब्राह्मण भी—जो उपाध्याय कहलाते हैं—पंचम-जातिभक्त हैं, चतुर्थादि नहीं। इससे भी जान पड़ता है कि ये भेद पीछे के हैं। —श्री नाथूराम प्रेमी

१. Aiyangar, K.V.R., *Some Aspects of Ancient Indian Polity*, Madras, 1938, pp. 118-9.
२. वही, पृ० ११८.
३. तुल० अग्निपुराण, १६५.११, तथा देशी०, २.४८.
४. मोहन चन्द, जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित सामाजिक परिस्थितियां (शोधप्रबन्ध), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९७७, पृ० २३४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org